THE TIMES OF INDIA

Date: 27-06-18

Emperor's New Clothes

By grafting welfare measures on rickety Raj structures, our leaders guarantee failure

Ravi Shanker Kapoor, (The writer is a freelance journalist)

The ongoing Aadhaar imbroglio is symptomatic of not only the rot within India's welfarism but also its systemic entropy. In fact, if there is one country in which the worst fears of classical liberals as well as contemporary libertarians about the welfare state have been realised, it is India. Even if we skirt the philosophical and moral critiques of the welfare state made by Western conservatives and other rightwing thinkers, we will find inherent inconsistencies in welfarism as it is practised in India. Right from the beginning, policy and decision makers of independent India have ignored a fundamental reality: that the welfare state is, first and foremost, a state. They have spent most of their energy and resources on introducing and expanding welfarist measures rather than, what was and is urgently needed, strengthening the institutions of the state – even for the success of welfarism.

For the British had framed laws and formulated policies to largely further their own ends. They set up institutions to perpetuate the Empire; they promoted the extortionist land revenue system to bolster the exchequer; they framed economic policy that bolstered the manufacturers of Manchester and Lancashire rather than those of Kanpur and Bombay; they created an administration to suppress and repress the natives rather than 'organise liberty with order'; they established the police that had least regard for human rights; in almost everything they did, the interests of mother country preceded those of the colony. (Well, they also brought modernity and the ennobling Enlightenment ideas and ideals to India, something no Indian ruler at the time did, but that's another story.) Not much has been done to alter that situation by way of state capacity augmentation.

On top of that, the Indian state took upon itself a variety of responsibilities: becoming the prime mover of development, overseeing infrastructure projects, setting up dams and public sector undertakings, regulating (usually heavily) the economy, taking care of health and education, trying to achieve a socialistic pattern of society, in short doing everything under the sun. Unsurprisingly things have gone from bad to worse, with mounting inefficiencies, ineptitude and corruption in government functioning. This is the statism of a weak state, but it is still statism. Our leaders love it; in their scheme of things, the cure for statism is not small government or less statism; the solution is more or, at best, a different kind of statism. For instance, when public distribution system (PDS) proved less than effective, a targeted public distribution system (TDPS) was devised. TDPS was implemented except in a handful of states and Union territories with effect from 1997.

How did it go? In the foreword of its performance evaluation report, erstwhile Planning Commission deputy chair Montek Singh Ahluwalia wrote in April 2005: "About 58% of the subsidised food grains issued from the central pool do not reach the below poverty line families because of identification errors, non-transparent operation and unethical practices in the implementation of TPDS. The cost of handling of food grains by public agencies is also very high." Ten years later, the Comptroller & Auditor General's report said, "After a lapse of two years from the stipulated date of completion, most of the states were yet

to computerise their TPDS operations." Einstein is said to have defined insanity as "doing the same thing over and over again and expecting different results". Insane or not, this is how our system works. So, our political masters stayed focussed on making the state largesse more targeted.

Aadhaar was conceptualised, but it has also run into all manner of trouble – linking Aadhaar to ration cards, privacy matters, data theft, even alleged starvation deaths, litigations. But the government is still adamant regarding the implementation of Aadhaar. The attitude is typical. Without diagnosing the ailment, our politicians keep trying a range of inefficacious therapies – even when the diagnosis is obvious. Everybody knew that inadequate state capacity plagued PDS, but little was done to address the real issue; instead something new, TPDS, was tried. Similarly, the implementation of Rashtriya Swasthya Bima Yojana has proved to be less than satisfactory, but the government aims at an even more ambitious National Health Protection Scheme. And, of course, we are also told that Aadhaar will redeem the poor. More than stubbornness, this is dogmatism: our rulers are loath to, as Ayn Rand would say, check their premises. The premise in this case is that a welfare state can be built regardless of state capacity.

It is putting the cart before the horse, but they are convinced that this will work. Which means that the state can take limitless burden without improvement in its institutions, without administrative reforms. There was something called the Second Administrative Reforms Commission, headed by Congress leader M Veerappa Moily. It prepared as many as 15 reports, the last of which came out in April 2009. Nobody has heard about administrative reforms – or, for that matter, movement on police and judicial reforms – since then. It says something about the obtuseness of our politicians that neither the government nor the opposition is bothered about administrative, judicial and police reforms; they are happy with cows, name changing, symbolism and other emotive issues. The engine bequeathed by the Raj was rickety; instead of repairing it, politicians have burdened it with a myriad of welfare measures. The denouement is the mess that is India.

दैनिक भास्कर

Date: 27-06-18

कभी किसान के मन की बात भी करें मोदी

संपादकीय

प्रधानमंत्री को आजकल किसानों की बड़ी चिंता है। यानी उनके वोट की बहुत चिंता है। होनी भी चाहिए। लोकसभा चुनाव का मौसम शुरू हो गया है। चाहे गुजरात से लेकर कैराना तक के चुनाव परिणाम हों या किसानों द्वारा अपनी फसल फेंक देने की खबरें हों या फिर नवीनतम जनमत सर्वेक्षण, सभी दिशाओं से किसान की नाराज़गी के संकेत आ रहे हैं। प्रधानमंत्री जानते हैं कि देश की खेती पर निर्भर आधी आबादी यह सवाल पूछ रही है: किसानों के लिए मोदी सरकार ने क्या किया? इस सवाल के उत्तर से तय होगा कि अगले साल कौन बनेगा प्रधानमंत्री। इसलिए आजकल प्रधानमंत्री अपने भाषणों में कृषि पर बहुत बोलते हैं। पहले उन्होंने रेडिओ पर किसान के नाम अपने 'मन की बात' कही। फिर वीडियो पर कुछ चुने हुए सरकारी कृपापात्र किसानों को बैठाकर उनके मुंह से अपने ही मन की बात कहलवाई। मैं सोचने लगा: क्या

कभी प्रधानमंत्री साक्षात किसान के सामने बैठकर किसान के मन की बात भी सुनेंगे? सोचते-सोचते मेरा मन मोदी और किसान के बीच एक खरी-खरी बातचीत की कल्पना करने लगा। मोदीजी खाट पर बैठे हैं। सामने कुछ किसान बैठे हैं, कुछ बुजुर्ग तो कुछ नौजवान और एक किसान कार्यकर्ता भी। बातचीत की शुरुआत मोदी जी किसानों की आय दोगुनी करने के अभियान से करते हैं।

एक किसान पलटकर पूछता है: आय दोगुनी करने की मियाद 2022 क्यों है? ये बताओ कि अब तक कितना बढ़ाया? और कितना बढ़ाओगे? नौजवान कार्यकर्ता अपने फोन पर आंकड़े पढ़ने लगता है। सरकार की अपनी समिति बताती है कि छह साल में आमदनी दोगुनी करने के लिए हर साल किसान की आय 10.4% की चक्रवर्ती दर से बढ़नी चाहिए। सरकार के अपने अर्थशास्त्री मानते हैं कि पिछले चार साल में किसान की आय सिर्फ 0.44% की सालाना दर से बढ़ी है! यानी किसान की आय जो पिछले चार साल में 100 रुपए से बढ़कर 148 रुपए हो जानी चाहिए थी, वो अभी 102 रुपए भी नहीं पंहुची है। मोदीजी मुस्कुराए: इतना तो मानो कि मेरी सरकार ने किसान को फसल का ड्योढ़ा दाम दिलाने का ऐतिहासिक फैसला लिया! किसान पूछता है: पहले तो बताइए कि आपकी सरकार फरवरी 2015 में सुप्रीम कोर्ट में हलफ़नामा देकर इस वादे से मुकर क्यों गई थी? फिर जब 2018 बजट में इस वादे को पूरा करने की घोषणा की, तो उसमे भी डंडी क्यों मार दी? यानी संपूर्ण लागत (सी2) पर ड्योढ़ा दाम देने की बजाय आंशिक लागत (ए2+एफएल) पर ड्योढ़े दाम वाली एमएसपी की घोषणा क्यों की? एक किसान बोला: ये सब छोड़ो, हमें तो वो अधूरा दाम भी नहीं मिला, जिसकी घोषणा अरुण जेटली ने की थी। आज भी पंजाब का किसान मक्का को 1,425 रुपए के सरकारी एमएसपी रेट की बजाय 600-800 रुपए में बेच रहा है।

चने की फसल सरकारी वादे से एक हज़ार रुपए प्रति क्विंटल कम पर बिकी है। सरसों में किसान को 600 रुपए क्विंटल का घाटा हुआ है। जौ की फसल सरकारी रेट से 300 रुपए सस्ती बिकी पर सरकार ने खरीदी से साफ इनकार कर दिया। आप भी अखबार देखते होंगे: किसान टमाटर सड़क पर फेंक रहे हैं, लहसुन की फसल पैदा करने वाले किसान बर्बाद हो चुके हैं। देश की एक भी मंडी का नाम बता दो जहां सभी किसानों को अपनी पूरी फसल पर सरकारी एमएसपी रेट भी मिला हो! मोदीजी ने चैलेंज स्वीकार नहीं किया। वो जानते थे कि यह सच्चाई एगमार्कनेट की सरकारी वेबसाइट में दर्ज़ है। लेकिन मोदीजी हार मानने वाले कहां! उन्होंने पैतरा बदला और बात का रुख प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना की ओर किया। युवा कार्यकर्ता ने फिर स्मार्ट फोन निकाला और बोलना शुरू किया: इस नई बीमा योजना आने के बाद से सरकार का खर्च चार गुना बढ़ गया। पहले साल में ही प्राइवेट बीमा कंपनियों को दस हज़ार करोड़ से ज्यादा का मुनाफा हुआ। लेकिन इस बीमे के तहत आने वाले किसानों की संख्या 23% से बढ़कर सिर्फ 24% पर पंहुची।

दूसरे नौजवान ने अब मुंह खोला: आपने दुनिया में कोई बीमा सुना है, जिसमें किसी का बिना पूछे, बिना बताए बीमा कर दिया जाए? किसान के साथ ही ऐसा क्यों? प्रधानमंत्रीजी ये किसान का बीमा नहीं है, ये तो बैंको ने अपने लोन का बीमा करवाया है! अब मोदीजी किसानों का मूड भांपने लगे थे। पहले सोचा था कि नीम कोटेड यूरिया और सॉइल हेल्थ कार्ड की बात करेंगे। लेकिन जमीनी हकीकत देखने के बाद समझ में आने लगा था कि इससे और किरकिरी होगी। इसलिए बैकफुट पर जाकर खेलने का फैसला किया: देखिये, हमारी नीयत तो साफ़ है। पिछली सरकार के मुकाबले हमने कृषि का बजट दुगना कर दिया। लेकिन वो फोन वाला लड़का इस शॉट के लिए भी तैयार था: सरजी, इतनी बड़ी कुर्सी पर बैठकर अर्धसत्य बोलना आपको शोभा नहीं देता। कृषि बजट का एक बड़ा हिस्सा (फसल लोन के ब्याज के लिए अनुदान) पहले वित्त मंत्रालय की जेब से जाता था, आपने उसे कृषि मंत्रालय के खाते में डाल दिया। असली फर्क सिर्फ इतना है कि

पिछली सरकार ने बजट के 100 रुपए में दो कृषि को दिए तो आपने दो रुपया 40 पैसे दिए। चुनावी साल में बजट बढ़ा है, लेकिन न तो दुगना और न ही पर्याप्त।

एक किसान अब तक चुप बैठा था, लेकिन नीयत की बात सुनकर उससे रहा न गया: नीयत तो आपकी उस दिन पता लग गई थी जब आपने आते ही एमएसपी का बोनस बंद करवा दिया, जब बार-बार हमारी जमीन छीनने वाला कानून बनाने की कोशिश की थी। दूसरा बोला: अगर नीयत साफ होती तो जब विदेश से तेल सस्ता मिलना शुरू हुआ तो किसान का डीज़ल भी सस्ता न कर देते? स्मार्ट फोन फिर आंकड़े लेकर खड़ा था: मई 2014 में कच्चे तेल की खरीद 107 डॉलर प्रति बैरल थी तो डीज़ल का दाम 55 रुपए था। अब कच्चा तेल घटकर 75 डॉलर का चल रहा है लेकिन, डीज़ल का दाम बढ़कर 68 रुपए लीटर क्यों है? कार्यकर्ता बोला: साफ नीयत तो उस दिन समझ आएगी जब आप किसान को फसल के दाम की गारंटी और कर्ज मुक्ति का कानून बनाओगे। बातचीत को समेटते हुए बुजुर्ग बोले: बेशक, एक स्वस्थ किसान को मरीज बनाने का दोष कांग्रेस सरकारों का है। लेकिन, आपने तो उस मरीज को आईसीयू तक पंहुचा दिया। अगर आज भी किसान को बचाना चाहते हो तो संसद का विशेष अधिवेशन बुलाकर कम से कम ये दो कानून तो बना दो। इस बातचीत से उठते हुए मोदीजी सोच रहे थे: मैंने किसान के मन की बात पहले क्यों नहीं सुनी!

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 27-06-18

प्लास्टिक पर प्रतिबंध

संपादकीय

महाराष्ट्र सरकार ने प्लास्टिक की सामग्री के निर्माण, इस्तेमाल, बिक्री, वितरण और भंडारण पर प्रतिबंध लगाने का निर्णय किया है। उसके इरादों पर किसी तरह की बहस की गुंजाइश नहीं है। जहरीले कचरे का उत्पादन रोकने के लिए ऐसा करना आवश्यक है। हालांकि हमारे देश में इसकी प्रति व्यक्ति खपत कम है लेकिन फिर भी कचरा प्रबंधन के खराब बंदोबस्त और देश की विशाल आबादी को देखते हुए वैश्विक स्तर पर इस जहरीले कचरे में हमारा योगदान काफी अधिक हो जाता है। इससे देश की जमीन तो प्रदूषित हो ही रही है, साथ ही पेयजल संक्रमण, पालतू पशुओं की मौत, नदियों में प्रदूषण भी हो रहा है। एक अनुमान के मुताबिक समुद्र में होने वाले वैश्विक प्रदूषण में भारतीय नदियों का योगदान 60 फीसदी है। स्वास्थ्य और पर्यावरण को होने वाली हानि को देखते हुए विकल्प की तलाश करना आवश्यक है। हालांकि उद्योग जगत का कहना है कि सरकार के इस निर्णय के चलते करीब 3 लाख लोग बेरोजगार होंगे और समूची मूल्य शृंखला पर इसका नकारात्मक असर होगा। परंतु एक स्वच्छ पर्यावरण निश्चय ही स्वास्थ्य पर होने वाले खर्च को भी कम करेगा।

इससे हम अपनी भविष्य की पीढिय़ों के लिए जैव विविधता भी बचा पाएंगे। इतना ही नहीं जूट और पुनर्चक्रित होने वाले प्लास्टिक जैसी श्रेणियों के साथ रोजगार के नए अवसर भी सामने आएंगे। कपड़े से बनने वाले थैलों का उत्पादन यकीनन मशीन से बनने वाली प्लास्टिक थैलियों की तुलना में अधिक रोजगार देगा। इस उपाय का क्रियान्वयन और परीक्षण

देखने वाली बात होगी। हालांकि महाराष्ट्र प्लास्टिक पर प्रतिबंध लगाने वाला देश का 25वां राज्य है। मोटे तौर पर यह एक उच्च औद्योगीकृत राज्य है और देश में प्लास्टिक कचरे का सबसे अधिक उत्पादन यहीं होता है। राज्य से सालाना 4.60 लाख टन प्लास्टिक कचरा निकलता है। देश के अधिकांश राज्यों में इस प्रतिबंध का अनुपालन ठीक तरह से नहीं होता। हालांकि उत्साहित करने वाली खबरें भी आती हैं। उदाहरण के लिए सिक्किम ने सन 1998 में प्रतिबंध लगाने के बाद प्लास्टिक का इस्तेमाल काफी कम कर दिया है। हिमाचल प्रदेश और उत्तराखंड में भी प्लास्टिक का इस्तेमाल कम करने का दावा है। प्लास्टिक का इस्तेमाल कम करने संबंधी कोई भी नीति ऐसी बनाई जानी चाहिए कि वह लोगों के व्यवहार में कई स्तरों पर बदलाव को प्रोत्साहित करे।

यूरोपीय संघ के देश कुछ तरह के प्लास्टिक के इस्तेमाल पर भारी जुर्माना लगाते हैं और वहीं पर्यावरण के अनुकूल विकल्पों के इस्तेमाल को प्रोत्साहन देते हैं। उनका कचरा प्रबंधन तंत्र भी बहुत बेहतर है। भारत ने ऐसा कुछ नहीं किया है। हालांकि प्रधानमंत्री ने इस वर्ष पर्यावरण दिवस पर कहा था कि देश में एक बारगी इस्तेमाल होने वाले प्लास्टिक का चलन सन 2022 तक बंद कर दिया जाएगा। परंतु इसके लिए कोई योजना नहीं बनाई गई। महाराष्ट्र का नीतिगत ढांचा भी आदर्श नहीं है। सरकार ने मौजूदा भंडार को खत्म करने और विकल्प तलाशने के लिए तीन महीने का वक्त दिया है। उल्लंघन करने वालों पर भारी भरकम जुर्माना लगाने और जेल की सजा देने की बात भी कही गई है। आम जनता और प्लास्टिक का इस्तेमाल करने वाले उद्योगों के बीच काफी भ्रम है कि कौन सी श्रेणी इस्तेमाल के लायक है और कौन सी प्रतिबंधित। जाहिर है जनता के बीच इसे बेहतर ढंग से पहुंचाया जा सकता था। उपभोक्ताओं को प्लास्टिक समेत तमाम कचरे के निपटान के बारे शिक्षित करना भी जरूरी है। तभी ऐसे प्रतिबंध प्रभावी होंगे। इसके लिए धैर्य की आवश्यकता है। जहरीले प्लास्टिक की समस्या रातोरात नहीं खत्म होगी। आम जन का व्यवहार बदलने में सालों लग सकते हैं। महाराष्ट्र ने अच्छी पहल की है लेकिन इसके साथ समुचित नीतिगत उपाय भी होने चाहिए।

Date: 26-06-18

दैनिक जागरण

किसानों की आमदनी दोगुनी करने का कठिन लक्ष्य

रमेश दुबे, (लेखक केंद्रीय सचिवालय सेवा के अधिकारी एवं कृषि मामलों के जानकार हैं)

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी वर्ष 2022 तक यानी अगले चार सालों में किसानों की आमदनी दोगुनी करने के लक्ष्य को अपनी प्राथमिकता बनाए हुए हैं। हाल में उन्होंने किसानों से बात करते हुए फिर कहा कि उनकी सरकार किसानों की आमदनी दोगुनी करने के लिए प्रतिबद्ध है। इससे इस लक्ष्य के प्रति मोदी सरकार की गंभीरता का ही पता चलता है, लेकिन कई ढांचागत उपायों के बावजूद सरकार अब तक इस लक्ष्य की ओर बढ़ती प्रतीत नहीं हो रही है। जाहिर है कि इसीलिए सरकार की आलोचना की जाने लगी है। चूंकि मोदी सरकार मनरेगा जैसे लोक-लुभावन कार्यक्रम के बजाय दूरगामी उपायों

के द्वारा किसानों की आमदनी बढ़ाने की कोशिश कर रही है इसलिए नतीजे आने में देर हो रही है। देश के विभिन्न हिस्सों के किसानों से बात करते हुए प्रधानमत्री ने मिट्टी, सिंचाई, बीज, उर्वरक, फसल बीमा, इलेक्ट्रॉनिक मंडी जैसे ढांचागत सुधारों की चर्चा करते हुए यह भी कहा कि सरकार ने कृषि संबंधी बजट की राशि को दोगुना कर दिया है।

नि:संदेह बजट में कृषि क्षेत्र के लिए राशि बढ़ाई गई है, लेकिन समस्या यह है कि इन बहुआयामी उपायों के बावजूद न तो किसानों की आत्महत्या थम रही है और न किसान आंदोलन। ग्रामीण भारत की बदहाली कई कारणों का परिणाम है। प्रमुख कृषि उत्पादों की कीमतों में तेज गिरावट, गेहूं और धान के न्यूनतम समर्थन मूल्य में मामूली बढ़ोतरी, कुदरती आपदाओं के कारण फसलों को भारी नुकसान से किसानों की बदहाली बढ़ी है। हालांकि अनाज, दाल, मांस, दूध और प्रोटीन सहित सभी कृषि उपजों का उत्पादन रिकॉर्ड स्तर पर पहुंच रहा है, लेकिन किसानों को उनकी उपज की वाजिब कीमत नहीं मिल पा रही है। नोटबंदी और जीएसटी के चलते मांग में जो कमी आई है उसका खामियाजा भी खेती को भुगतना पड़ रहा है। खेती-किसानी की बदहाली का एक पहलू उदारीकरण के दौर में खेती की उपेक्षा से भी जुड़ा है। इसे दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि कृषि प्रधान देश में खेती-किसानी की नीतियां आग लगे तो कुआं खोदो वाली रही हैं।

उत्पादन से लेकर भंडारण-विपणन तक में कामचलाऊ नीतियों का नतीजा यह हुआ कि खेती घाटे का सौदा बन गई। एक कारण यह भी रहा कि राजनीतिक कारणों से सरकारें जितनी चिंता महंगाई की करती हैं उसका दसवां हिस्सा भी खेती-किसानी की नहीं करतीं। किसानों की समस्याएं इसलिए भी बढ़ती चली गईं, क्योंकि अब तक सरकारी नीतियों का लक्ष्य उत्पादन में बढ़ोतरी तक अधिक केंद्रित रहा है। उत्पादन में वृद्धि से यह मान लिया जाता था कि किसानों का समग्र विकास हो रहा है, जबकि सच्चाई इसके विपरीत है। विडंबना यह भी है कि कृषि उत्पादन में वृद्धि का लक्ष्य भी सभी फसलों और सभी क्षेत्रों को नहीं समेट पाया है। जिस हरित क्रांति पर हम इतराते रहे हैं उसका दायरा चुनिंदा फसलों और इलाकों तक सिमटा रहा। दलहनी, तिलहनी फसलें और मोटे अनाज हरित क्रांति की परिधि से दूर ही रहे। चूंकि हरित क्रांति में समय के साथ बदलाव नहीं किए गए इसलिए इस क्रांति के अगुआ रहे क्षेत्र भी बदहाली की ओर बढ़ते चले गए। कांग्रेसी शासन काल में एक बड़ी गलती यह भी हुई कि खेती की बदहाली को दूर करने के लिए ढांचागत सुधार करने के बजाय दान-दक्षिणा वाली योजनाएं शुरू की गईं ताकि किसानों का असंतोष उसे सत्ता से बेदखल न कर दे।

काम के बदले अनाज योजना, मनरेगा, कर्जमाफी आदि इसी आत्मघाती नीति के कुछेक उदाहरण हैं। खेती-किसानी को जिस प्रकार वोट बैंक की राजनीति से जोड़ दिया गया उससे भी उसका विकास बाधित हुआ। समस्या यह है कि अब कोई भी सरकार इन कामचलाऊ योजनाओं में कटौती का जोखिम नहीं उठा पाती है। इससे खेती में दीर्घकालिक निवेश प्रभावित होता है। लंबे अर्से तक उपेक्षा के बाद मोदी सरकार ने खेती किसानी के समग्र विकास के कदम उठाए हैं। इसके तहत मिट्टी से लेकर उपज के भंडारण-विपणन तक के उपाय किए जा रहे हैं ताकि खेती मुनाफे का सौदा बने। अब तक 13 करोड़ से ज्यादा मृदा स्वास्थ्य कार्ड बांटे जा चुके हैं। इससे उर्वरकों के असंतुलित इस्तेमाल में कमी आई है। नीम कोटेड यूरिया के इस्तेमाल से उसकी कालाबाजारी रोकने में कामयाबी मिली है। सरकार किसानों को अच्छी गुणवत्ता के बीज की भी आपूर्ति कर रही है। इसके अलावा कुछ अन्य उपाय भी किए गए हैं। क्या इसे दुर्भाग्य नहीं कहेंगे कि आजादी के 70 साल बाद भी देश की 60 फीसद कृषि भूमि मानसून की कृपा पर निर्भर है।

मोदी सरकार ने हर खेत को पानी पहुंचाने के लिए प्रधानमंत्री कृषि सिंचाई योजना शुरू की है और उसकी ओर से लंबित सिंचाई परियोजनाओं को पूरा करने को सर्वोच्च प्राथमिकता भी दी जा रही है। लगभग सौ परियोजनाएं जल्द ही पूरी होने वाली है। किसानों की सबसे बड़ी समस्या है उपज की वाजिब कीमत न मिलना। इस समस्या को दूर करने के लिए मोदी

सरकार ऑनलाइन प्लेटफॉर्म ई-नाम शुरू किया है। अब तक 14 राज्यों की 585 मंडियां इससे जुड़ चुकी हैं, शेष 415 मंडियों को 2020 तक ई-नाम से जोड़ दिया जाएगा। किसानों को अपनी उपज की बिक्री के लिए अधिक दूर न जाना पड़े, इसके लिए देश की 22,000 ग्राम मंडियों का विकास करने की योजना है। ग्रामीण एवं कस्बाई इलाकों में इंटरनेट संबंधी नेटवर्क के मजबूत बनते ही इसका लाभ समूचे देश को मिलने लगेगा। जैविक उत्पादों की वैश्विक मांग का दोहन करने के लिए सरकार जैविक खेती को बढ़ावा दे रही है। मोदी सरकार के लिए इस हकीकत से परिचित होना आवश्यक था कि एमएसपी में बढ़ोतरी और कर्जमाफी से खेती का संकट दूर नहीं होगा।

शायद इस हकीकत को जानने के बाद ही सरकार खेती-किसानी को विविधीकृत कर रही है ताकि मौसमी उतार-चढ़ाव और खेती की बढ़ती लागत को किसान आसानी से झेल सकें। इसके तहत कृषि के साथ-साथ मत्स्य पालन, डेयरी, मधुमक्खीपालन जैसी आयपरक गतिविधियों को बढ़ावा दिया जा रहा है। इसके अलावा आलू, प्याज, टमाटर जैसे शीघ्र खराब होने वाली उपज की ढुलाई, संरक्षण एवं बिक्री को बढ़ावा देने के लिए जुलाई में 'आपरेशन ग्रीन' लांच किया जाना है। इस सबको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि मोदी सरकार खेती-किसानी को मुनाफे का सौदा बनाने के लिए ढांचागत सुधारों पर बल दे रही है इसीलिए वांछित नतीजे आने में देर हो रही है। एक बार आधुनिक कृषिगत आधारभूत ढांचा बन जाने के बाद खेती-किसानी की बदहाली दूर हो जाएगी, लेकिन यह सुनिश्चित करने की जरूरत है कि कृषि संबंधी आधारभूत ढांचे का निर्माण अपेक्षा के अनुरूप हो।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 26-06-18

केंद्र बनाम राज्य की नई राजनीति

एस श्रीनिवासन वरिष्ठ पत्रकार

पिछले हफ्ते केरल के मुख्यमंत्री पी विजयन को प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी से मुलाकात का चौथी बार वक्त नहीं मिला। यह एक रिकॉर्ड है। केरल की वाम मोर्चा सरकार के मुख्यमंत्री दरअसल प्रधानमंत्री से मिलकर अपने राज्य को अधिक अनाज आवंटित किए जाने के लिए अपना पक्ष रखना चाहते थे। लेकिन उन्हें सलाह दी गई कि वह खाद्य मंत्री राम विलास पासवान से मिलें। मुख्यमंत्री का कहना था कि उन्होंने खाद्य मंत्री की सलाह पर ही प्रधानमंत्री से मिलने का वक्त मांगा था। इसलिए फिर से खाद्य मंत्री के पास जाने से समस्या का हल नहीं निकलने वाला। जाहिर है, मुख्यमंत्री विजयन ने इसे देश के संघीय ढांचे का अपमान और जान-बूझकर केरल को उसके 'वाजिब हक' से वंचित करना बताया। कुछ दिनों पहले पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी को भी दिल्ली के उप-राज्यपाल अनिल बैजल ने मुख्यमंत्री अरविंद केजरीवाल से मिलने की इजाजत नहीं दी थी। दिल्ली के मुख्यमंत्री उप-राज्यपाल के यहां धरने पर बैठे थे और बंगाल की मुख्यमंत्री उनसे मिलकर अपनी एकजुटता दिखाना चाहती थीं।

आम आदमी पार्टी के प्रवक्ता ने आरोप लगाया कि उप-राज्यपाल ने केंद्र सरकार के निर्देश पर अनुमति देने से इनकार किया। बाद में ममता बनर्जी और आंध्र प्रदेश, केरल व कर्नाटक के मुख्यमंत्री केजरीवाल के घर गए और उनके परिजनों से मुलाकात की। अगर इन मुख्यमंत्रियों को उप-राज्यपाल आवास न आने देने के पीछे सचमुच केंद्र सरकार का हाथ था, तो यह खुद केजरीवाल के अशालीन व्यवहार का बेहद भद्दा जवाब था। अरविंद केजरीवाल सामान्य राजनीतिक शिष्टाचार

में यकीन नहीं करते। यही कारण है कि वह एक असाधारण कदम उठाते हुए उप-राज्यपाल के अतिथि-कक्ष में धरने पर बैठ गए थे। पिछले कुछ समय से गैर-भाजपा शासित राज्य यह शिकायत करते आ रहे हैं कि देश के संघीय ढांचे के आगे नए खतरे पैदा हो गए हैं। दक्षिणी राज्यों को 15वें वित्त आयोग की कुछ शर्तों को लेकर आपत्तियां थीं। उनके मुताबिक, इसकी शर्तें दक्षिणी सूबों के हितों के खिलाफ हैं।

उनकी आपत्तियों में अन्य बातों के अलावा एक बड़ी आपत्ति इस बात की भी थी कि आबादी के मापदंड के तौर पर 2011 की जनगणना को आधार बनाया गया है। वे '2022 न्यू इंडिया' अभियान से भी नाखुश हैं, क्योंकि यह 'राज्यों को कुछ खास नीतिगत रुख अपनाने के लिए बाध्य करता है।' इन राज्य सरकारों को महसूस हो रहा है कि उन पर ऐसी नीतियां अपनाने के लिए दबाव बनाया जा रहा है, जो अपनी मूल प्रकृति में राजनीतिक हैं। कई राज्य कृषि कर्ज माफी के मुद्दे पर भी नाराज हैं। कुछ समय पहले कर्नाटक ने 8,000 करोड़ रुपये के सहकारी कृषि लोन को माफ कर दिया था। इसी तरह, तमिलनाडु ने भी अपने उन किसानों के 5,000 करोड़ रुपये के कर्ज माफ कर दिए थे, जिन्होंने राज्य के सहकारी बैंकों से कृषि ऋण लिया था। लेकिन ये राज्य उन किसानों की कोई मदद नहीं कर पाए, जिन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों से कृषि लोन लिया था। इसके लिए उन्हें केंद्र सरकार से मंजूरी जरूरी थी।

लेकिन तब उनका अनुरोध यह कहते हुए ठुकरा दिया गया कि इससे केंद्र की राजस्व स्थिति पर बुरा असर पडेगा। हालांकि, उत्तर प्रदेश की कृषि कर्ज माफी योजना को केंद्र ने माली मदद की। भारत में संघराज्य एक दोहरी नीति है, जो राष्ट्रीय स्तर पर केंद्र व राज्य सरकारों के रिश्तों को परिभाषित करती है, तो दूसरी तरफ, स्थानीय स्तर पर राज्यों के सांविधानिक घटकों की व्याख्या करती है। शक्तियों और अधिकारों का बंटवारा कुछ ऐसा किया गया है कि हरेक इकाई के पास कुछ ऐसी शक्ति व अधिकार हैं, जिनका इस्तेमाल सिर्फ वही कर सकती है, जबकि अन्य शक्तियां साझी करनी पड़ेगी । उदाहरण के लिए, केंद्रीय सूची में शामिल रक्षा, विदेश, बैंक, संचार और मुद्रा के क्षेत्र ऐसे हैं, जिन पर केंद्र सरकार का एकाधिकार है। पुलिस, कारोबार, वाणिज्य, कृषि और सिंचाई राज्य सूची के उनके एकाधिकार वाले विषय हैं। तीसरी समवर्ती सूची में शिक्षा के अलावा अन्य सारे विषय शामिल हैं।

भारतीय संविधान अपनी प्रकृति में संघीय है और यह राज्यों में 'सहयोगात्मक संबंध' की मांग करता है। केंद्र और राज्यों के रिश्ते हमेशा से नाजुक संतुलन के विषय रहे हैं, मगर हाल के दिनों में गैर-भाजपा शासित राज्यों के विरोध को देखते हुए लगता है कि इस संतुलन की तत्काल जरूरत पैदा हो गई है। साल 2014 के चुनाव घोषणा-पत्र में भाजपा ने वादा किया था यदि उसे सत्ता मिली, तो वह यूपीए सरकार के 'टकराव वाले' नजरिये की बजाय राज्यों के साथ 'सहयोगात्मक संघवाद' कायम करेगी। उसने यह भी वादा किया था कि आतंकवाद, सांप्रदायिकता और कानून-व्यवस्था से जुड़े मसलों से निपटने में वह राज्यों को भी निर्णय में शामिल करेगी। सत्ता में आने के बाद मोदी सरकार ने कई कदम उठाए भी। इसने 14वें वित्त आयोग की सिफारिशों को स्वीकार किया, जिनमें राज्यों को ज्यादा वित्तीय संसाधन मुहैया कराने का प्रस्ताव किया गया था। राज्यों को इस बात की भी सुविधा दी गई कि वे विदेशी विकास निधि संस्थानों से मदद लेने के प्रयास कर सकते हैं।

केंद्र सरकार ने राज्य में कारोबारी माहौल के बारे में मानदंड जारी करके भी 'प्रतिस्पद्र्धी संघवाद' को बढ़ावा दिया। इन मानदंडों के आधार पर राज्यों को श्रेणी दी जाती है, ताकि उनमें आगे बढ़ने की स्वस्थ होड़ पैदा हो सके। केंद्र सरकार अब जब अपने कार्यकाल के आखिरी वर्ष में है, तो उसके खिलाफ राज्यों की आवाजें बढ़ती जा रही हैं। 2019 में अपने लिए अवसर देख रही क्षेत्रीय पार्टियां केंद्र बनाम राज्य के मुद्दे को अधिक आक्रामक तरीके से उठा रही हैं। गठबंधन बनाने

में जुटी कम्युनिस्ट व क्षेत्रीय पार्टियां एनडीए सरकार पर हमले के लिए 'संघवाद' को एक सशक्त हथियार के रूप में देख रही हैं। केंद्र का रवैया क्षेत्रीय पार्टियों की स्थिति को मजबूत ही कर रहा है। मोदी सरकार के प्रति कभी दोस्ताना रुख रखने वाले तेलंगाना व आंध्र प्रदेश के बाद अब जम्मू-कश्मीर की पीडीपी भी प्रतिद्वंद्वी खेमे में आ गई है।

जनसत्ता

Date: 26-06-18

पर्यटन के रंग

संपादकीय

धार्मिक-आध्यात्मिक पर्यटन को बढ़ावा देने के मकसद से उत्तर प्रदेश सरकार ने देश में रामायण सर्किट बनाने की दिशा में पहल की है। ऐसा नहीं कि हिंदू तीर्थाटन हाल के वर्षों में ही बढ़ा है। वर्ष-भर जिस तरह से हिंदू समाज के लोग धार्मिक यात्राएं करते हैं, उसे देखते हुए रामायण सर्किट काफी देरी से बनना शुरू हो रहा है। रामायण सर्किट का निर्माण बड़ी योजना है जिसमें एक-दो नहीं, बल्कि नौ राज्यों के पंद्रह स्थानों को शामिल किया जाएगा। ये सारे वे स्थान हैं जिनके बारे में माना जाता है कि भगवान राम यहां से गुजरे थे। सरकार ने इसके लिए एक सौ तैंतीस करोड़ रुपए की योजना को हरी झंडी दे दी है। स्वदेश दर्शन योजना के तहत देश में जो तेरह पर्यटन सर्किट बनाए जाने हैं, रामायण सर्किट भी उसी का हिस्सा है। यह रामायण सर्किट उत्तर प्रदेश में अयोध्या, श्रृंगवेरपुर और चित्रकूट, बिहार में सीतामढ़ी, बक्सर और दरभंगा, पश्चिम बंगाल में नंदीग्राम, ओड़िशा में महेंद्रगिरि, छत्तीसगढ़ में जगदलपुर, तेलंगाना में भद्राचलम, तमिलनाडु में रामेश्वरम, कर्नाटक में हंपी, महाराष्ट्र में नाशिक और नागपुर से होकर गुजरेगा। इसके अलावा कृष्ण सर्किट, बौद्ध सर्किट, जैन सर्किट और सूफी सर्किट की योजना पर भी काम होगा।

सर्किट-विशेष धार्मिक और आध्यात्मिक पर्यटन को बढ़ावा देने में बड़े मददगार होते हैं। इसका फायदा यह होता है कि ज्यादातर पर्यटन-स्थल विकास के दायरे में आ जाते हैं। देशी-विदेशी पर्यटकों के लिए घूमना आसान हो जाता है। उन्हें भटकना नहीं पड़ता। पैकेज टूर इन सर्किटों की यात्रा को आसान बना देते हैं। पर्यटन स्थलों के विकास से रोजगार भी पैदा होता है। प्रदेश में ज्यादा से ज्यादा लोग घूमने आएं, इसी मकसद से पिछले साल अयोध्या में एक लाख दीयों से दीवाली उत्सव मनाया गया था। पर हैरानी की बात है कि अयोध्या में ज्यादातर मंदिर-मठ जीर्ण-शीर्ण हालत में हैं। इस पर आज तक किसी ने गौर करना उचित नहीं समझा। प्रदेश के ज्यादातर शहर ऐसे हैं जिनमें पर्यटन के विकास की अपार संभावनाएं हैं। पर्यटक आते भी हैं, लेकिन सुविधाओं का भारी अभाव है। बनारस, अयोध्या, इलाहाबाद जैसे शहर तो पूरी दुनिया में हिंदू धर्म के प्राचीन और पवित्र धार्मिक स्थान माने जाते हैं। सरकार बनारस में काशी विश्वनाथ मंदिर के आसपास के इलाके की भी रंगत बदलेगी।

पिछले महीने प्रधानमंत्री जब नेपाल गए थे तो जनकपुर-अयोध्या बस सेवा शुरू की गई थी। लेकिन तब पता चला कि अयोध्या में बस डिपो ही नहीं है। इसलिए अयोध्या में अब बस डिपो भी बनेगा। खटकने वाली बात यह है कि सबसे पुराने और हिंदू आस्था के विश्वविख्यात तीर्थस्थल आज भी बुनियादी सुविधाओं के मोहताज हैं। वरना, अयोध्या शहर बस-डिपो जैसी सुविधा के लिए क्यों तरसता?कहने को उत्तर प्रदेश के मानचित्र पर बौद्ध सर्किट पहले से मौजूद है। लेकिन सर्किट बन जाने भर से काम नहीं चलने वाला। तीर्थयात्रियों को पर्याप्त सुविधाएं और सुरक्षा देना भी सरकार की

जिम्मेवारी बनती है। पर्यटकों को गुंडागर्दी, चोरी, लूटपाट और ठगी जैसी घटनाओं से भी दो-चार होना पड़ता है। महिला पर्यटकों से छेड़छाड़ और बलात्कार जैसी घटनाओं से कई बार भारत को शर्मसार होना पड़ा है। महिलाओं की सुरक्षा के लिए जैसे पुख्ता बंदोबस्त होने चाहिए, वैसे हैं नहीं। पर्यटन स्थलों पर साफ-सफाई न होना भी एक गंभीर समस्या है।

नईदुनिया

Date: 26-06-18

सुधारों से बदलेगी बैंकों की तस्वीर

सुषमा रामचंद्रन, (लेखिका वरिष्ठ आर्थिक विश्लेषक हैं)

बैंकिंग इंडस्ट्री का संकट निकट भविष्य में खत्म होता नजर नहीं आता। हाल ही में बैंक ऑफ महाराष्ट्र के कुछ शीर्ष अधिकारियों की गिरफ्तारी की खबरें आईं, जबकि आईसीआईसीआई बैंक में चंदा कोचर के पति के वीडियोकॉन के साथ जुड़ाव का मामला लगातार चल ही रहा है। इसके साथ-साथ बैंकों को हजारों करोड़ रुपए का चूना लगाकर विदेश भागे नीरव मोदी और मेहुल चौकसी के मामले भी हैं और बैंकिंग सेक्टर पर एनपीए के भारीभरकम बोझ की खबरें भी लगातार आती रहती हैं। हालांकि इस संदर्भ में कुछ हालिया घटनाक्रमों पर बैंकिंग नियामक निकायों व सरकार द्वारा जिस तरह किंचित अतिरंजित प्रतिक्रियाएं दी गईं, उन्हें भी अच्छा नहीं कहा सकता। ऐसा लगता है कि समस्याओं के प्रति समग्र नजरिया अपनाने के बजाय हड़बड़ी में कार्रवाई करते हुए कुछ लोगों को बलि का बकरा बना दिया गया। हाल ही में बैंक ऑफ महाराष्ट्र के कुछ शीर्ष अधिकारियों की गिरफ्तारी ऐसा ही मामला लगता है। यह हैरतनाक है कि हमारा सिस्टम उन ताकतवर उद्योगपतियों की धरपकड़ में नाकामयाब है, जिन्होंने हमारे वित्तीय तंत्र के साथ हजारों करोड़ की धोखाधड़ी की और सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों के कर्मचारियों को पकड़ा जा रहा है, जो अपनी ड्यूटी करते हैं। बेहतर तो यह होता कि इंडियन बैंक एसोसिएशन (आईबीए) बैंकरों के खिलाफ लगाए गए आरोपों पर विचार के लिए कमेटी गठित करती, उसके बाद ही उनकी गिरफ्तारी जैसे नाटकीय कदम उठाए जाते।

बैंक ऑफ महाराष्ट्र मामले में पुणे में पुलिस की आर्थिक अपराध शाखा एक रीयल एस्टेट कारोबारी द्वारा निवेशकों से धोखाधड़ी के मामले की जांच कर रही थी और उसे कर्ज देने के कारण इस पब्लिक सेक्टर बैंक को भी जांच के दायरे में लिया गया। इस मामले में यह ना भूलें कि उस रीयल एस्टेट कारोबारी से कर्ज वसूली की प्रक्रिया जारी है, जिसे देने से पूर्व क्रेडिट मूल्यांकन में छल-कपट के कोई संकेत नहीं मिले। इसके अलावा कर्ज की राशि (तकरीबन 100 करोड़ रुपए) हजारों करोड़ रुपए के उन कर्जों के मुकाबले मामूली ही है, जो कि बिजनेस टायकून विजय माल्या को दिए गए और जो किसी भी आर्थिक अपराध शाखा द्वारा उसके खिलाफ कोई कार्रवाई करने से पूर्व ही विदेश भाग गया। हालांकि मेरे कहने का आशय यह नहीं है कि हमारे बैंकिंग तंत्र में उपचारात्मक सुधारों की दरकार नहीं है। बिलकुल है, लेकिन बैंकों में सुधार इस तरह तो नहीं होंगे कि बैंक अधिकारियों को निशाना बनाया जाए, जबकि वे तो सिर्फ अपना काम करते हैं। यहां पर यह इंगित करना जरूरी है कि सिस्टम में व्याप्त कई व्याधियां पब्लिक सेक्टर बैंकों पर राजनीतिक नियंत्रण की वजह से

हैं। अब यह व्यापक मान्यता है कि हमारे बैंक एनपीए के रूप में फंसे कर्जों के जिस बोझ से कराह रहे हैं, ऐसे ज्यादातर कर्जे पूर्ववर्ती यूपीए और मौजूदा एनडीए के राज में प्रभावशाली राजनेताओं के दबाव की वजह से दिए गए। इस पहलू को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता, क्योंकि हर पार्टी द्वारा राष्ट्रीयकृत बैंकिंग तंत्र से व्यक्तिगत लाभ उठाने की कोशिशें की जा रही हैं।

सवाल पूछा जा सकता है कि आखिर ऐसे कितने राजनेताओं को सलाखों के पीछे भेजा गया या भेजने की तैयारी है, जिन्होंने बैंक अधिकारियों को फोन कर किन्ही खास व्यक्तियों या फर्म को कर्ज देने के लिए दबाव डाला हो? इस संदर्भ में निजी बैंकों की कार्यप्रणाली पर भी गौर करें। आईसीआईसीआई की चीफ एक्जीक्युटिव चंदा कोचर का मामला यहां प्रासंगिक है। बैंकिंग सेक्टर की एक चमकदार शख्सियत रहीं चंदा कोचर को बीते सालों में देश के इस सबसे बड़े निजी बैंक को प्रभावी ढंग से संभालने के लिए खूब सराहना मिली। लेकिन उनके पति द्वारा वीडियोकॉन के साथ किए गए वित्तीय सौदों और बाद में उस कंपनी को आईसीआईसीआई बैंक द्वारा कर्ज दिए जाने की खबरों ने उनकी उपलब्धियों पर ग्रहण लगा दिया। इस मामले में बेहतर तो यही था कि आरोपों की निष्पक्ष जांच-पड़ताल की खातिर वह तुरंत पद छोड़ देतीं। लेकिन कहना होगा कि इस मामले में बैंक बोर्ड द्वारा उनके छुट्टी पर जाने पर जोर दिए जाने के बावजूद उन्हें पर्याप्त गुंजाइश दी गई। दूसरी ओर हमने देखा है कि ऐसे ही हालिया कुछ मामलों में जांच एजेंसियों द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक कर्मियों के खिलाफ किस तरह सख्त बर्ताव किया गया। आईसीआईसीआई बैंक के मामले से सीबीआई भी जुड़ी है, लिहाजा यह गंभीर मामला है, भले ही इसमें कुछ भी निकले।

ऐसे में किसी को तो यह सुनिश्चित करना ही होगा कि सार्वजनिक व निजी, दोनों क्षेत्र के बैंक कर्मचारियों के लिए ऐसे मामलों में एक समान नियम-कायदे हों और उनसे समान ढंग से निपटा भी जाए। वित्तीय तंत्र को दहलाने वाले ऐसे स्कैंडलों के अलावा हमारे बैंकिंग तंत्र को भारीभरकम एनपीए (फंसे कर्जों) की समस्या से भी निपटना होगा, जिनकी वजह से सार्वजनिक व निजी, दोनों क्षेत्र के बैंकों की बैलेंस शीट्स गड़बड़ा रही हैं। भारतीय रिजर्व बैंक का आकलन है कि वर्ष 2006 से 2011 तक तीव्र क्रेडिट वृद्धि का काल रहा और 2011 के बाद यह धीरे-धीरे बढ़ा। लेकिन वर्ष 2015 में केंद्रीय बैंक द्वारा एनपीए निर्धारित करने संबंधी मानकों को सख्त करने के बाद इस आंकड़े में नाटकीय उछाल आया। इसके नतीजतन बैंकों द्वारा जिसे पहले स्टैंडर्ड एसेट के तौर पर वर्णित किया जाता था, उसका खुलासा एनपीए के तौर पर करना पड़ा। पिछले साल दिसंबर तक के जारी आंकड़े ने दर्शाया कि एनपीए 8.4 लाख करोड़ रुपए के स्तर तक पहुंच चुका है। भले ही यह आंकड़ा भयावह हो, लेकिन अच्छी खबर यह है कि इन्सॉल्वेंसी एंड बैंकरप्सी कोड (आईबीसी) के अमल में आने के बाद एनपीए के मसले से निपटने की पुख्ता कार्रवाइयां हो रही हैं।

इस मामले में पहली बड़ी सफलता भूषण स्टील को बेचने के रूप में मिली, जिसे करीब 36000 करोड़ रुपए के लिए टाटा स्टील को बेच दिया गया। इस पहले कदम के साथ हम वित्त मंत्रालय के इस भरोसे पर यकीन कर सकते हैं कि इस साल एक लाख करोड़ रुपए तक की वसूली हो जाएगी। यह तो सिर्फ इस प्रक्रिया की शुरुआत है, जो निश्चित तौर पर उस सेक्टर के लिए शुभ संकेत है, जिसे लंबे समय से इस घुप अंधेरी सुरंग से निकलने की राह नहीं मिल रही थी। यह सही है कि बैंकिंग सेक्टर संकटों से घिरा है, लेकिन इस उथल-पुथल से व्यवस्था में जरूरी सुधारों की राह भी खुली है। रिजर्व बैंक ने पहले ही नियामक प्रक्रियाओं को सख्त करना शुरू कर दिया है, लेकिन उसका यह कहना भी सही है कि वह बैंकों के हरेक कृत्य पर तो निगाह नहीं रख सकता। इस संदर्भ में बैंक बोर्डों को भूमिका बढ़ाई जाए, ताकि उनकी अधिक जवाबदेही सुनिश्चित हो और कॉर्पोरेट गवर्नेंस भी सुधरे। इसके साथ सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों के संदर्भ में सरकार की भूमिका भी फिर से परिभाषित की जाए, क्योंकि ये बैंक राजनीतिक दबाव से अछूते नहीं।

THE HINDU

Date: 26-06-18

Uniquely placed

The Finance Commission must heed the Northeast's challenges

Ashish Kundra, (Ashish Kundra is an IAS officer posted with the Government of Mizoram)

The 15th Finance Commission (FC) is in the process of figuring out a fair formula for the distribution of net tax proceeds between the Union and the States, and among States. The 14th FC had adopted a formula-based tax devolution approach, apart from grants-in-aid for local bodies, disaster relief, and post-devolution revenue deficit grants. The share of devolution to the States was enhanced to 42% from 32%, which gave the States considerable flexibility. However, it dispensed with sectoral grants for elementary education, the forest sector and renewable energy sector, among others. No State-specific grants were recommended. The assumption was that a higher level of devolution would offset other requirements.

The devolution formula, therefore, is central to the approach of resource transfers. The 14th FC accorded 27.5% weight to the population (of which 17.5% was of the 1971 population), 15% to area, 7.5% to forest cover and 50% to income distance. Larger States with larger populations have a greater requirement of resources. Income distance was adopted as a proxy for fiscal capacity, and forest cover was given weightage for the first time, underscoring ecological benefits.

A distinct entity

The Northeast represents a distinct entity for developmental planning and has a special category status. Low levels of human development indices, a low resource base, and poor connectivity and infrastructure pose a different challenge which must be taken into account in the devolution formula. Central Ministries earmark 10% of their allocations for the Northeast. By the same logic, 10% of tax proceeds could be earmarked for vertical devolution to the region. A number of centrally sponsored schemes have been rolled out where the obligation of State share is huge, adding to revenue expenditure. Sometimes the real burden (as in the case of Sarva Shiksha Abhiyan) is far more than the mandated 10%. Many centrally sponsored schemes are discontinued midway, and the burden of employee salaries falls on the States. Maintenance of assets, such as rural roads under the Pradhan Mantri Gram Sadak Yojana, require huge expenditure, especially in hilly States. A 20% cost disability was allowed by the 13th FC while allocating grants for road maintenance.

The 13th FC acknowledged the different position of the Northeast while arriving at the formula for horizontal devolution. Its twin guiding principles were equity and efficiency. It accorded 47.5% weight to fiscal capacity distance. Per capita GSDP was taken as a proxy for fiscal capacity, but States were divided into two groups, general and special category States, given that the average tax to GSDP ratio was higher for the former. Three-year per capita GSDP was computed separately in these two groups, weighted means of tax to GSDP ratio obtained, and per capita tax revenue was assessed for each State. Fiscal

distance was thereafter calculated on estimated per capita revenue with reference to the highest State, which was then multiplied by the 1971 populations to arrive at the share of each State. There was much merit in this approach, which was in contrast to the 14th FC which used per capita GSDP as an indicator of fiscal capacity uniformly for all States.

The revision of the base year to 2011-12 by the Central Statistics Office from 2004-05 also created complications. Arunachal Pradesh, for instance, saw a sudden spike in per capita GSDP. This was primarily on account of the fact that 73% of the GSDP was calculated on the allocation method as compared to 34% earlier. This saw a jump in gross value added in mining, construction, electricity, etc., even with a negligible industrial base.

Comparing apples with apples

The Northeast also bears a disproportionate burden of natural disasters every year on account of rainfall. The 14th FC disaster relief grants bore no correlation with vulnerability but were ad hoc extrapolations of previous allocations. The Energy and Resources Institute has computed an index of vulnerability of all States. The disaster vulnerability index is highest for the Northeast; this needs to be factored in while allocating grants. The region also has the highest forest cover and represents the largest carbon sink nationally. Allocating 10% for forest cover would encourage States to preserve the forests.

The Terms of Reference of the 15th FC also mention performance-based incentives based on improvements in GST collection, Direct Benefit Transfer rollout, etc. This would definitely infuse a spirit of competition. However, the performance of the Northeastern States must be benchmarked with other Northeastern States so that apples are not compared with oranges. The challenge for the Commission, as one member said, is "to strike a balance between those who need and those who perform".

Date: 26-06-18

Reduce, segregate: On plastic ban

We need substitutes for plastic, incentives to re-use, and better waste disposal

Editorial

Maharashtra's ban on several consumer articles made of plastic, introduced after a three-month notice period to industry and users, is an extreme measure. It is naturally disruptive, and Mumbai, famed for its resilience in the face of urban challenges, is trying to adapt quickly. Today, stemming the plastic tide is a national imperative. India hosted this year's World Environment Day and Prime Minister Narendra Modi made a high-profile pledge, to international acclaim, that it would do away with all single-use plastics by 2022. This goal is not yet backed by an action plan so that State governments and local bodies can be in sync. Worldwide, the problem has got out of hand, with only 9% of about nine billion tonnes of plastic produced getting recycled. India has an uninspiring record when it comes to handling waste. It has patchy data on volumes, and even less on what it recycles.

This lackadaisical approach is at odds with its ambitious goals. Quite simply, if the Centre and the States had got down to dealing with the existing regulations on plastic waste management and municipal solid waste, a ban would not even have become necessary. Specifications for the recycling of different types of plastics were issued two decades ago by the Bureau of Indian Standards. To address the global concern that the bulk of India's plastic waste — estimated officially at 26,000 tonnes a day — is being dumped in the oceans, there has to be an effort on a war footing to segregate it at source. The Urban Development Secretary in each State, who heads the monitoring committee under the rules, should be mandated to produce a monthly report on how much plastic waste is collected, including details of the types of chemicals involved, and the disposal methods. Such compulsory disclosure norms will maintain public pressure on the authorities, including the State Pollution Control Boards.

But segregation at source has not taken off, as there is little awareness, official support or infrastructure. Even bulk generators such as shopping malls, hotels and offices do not abide by the law. Priority, therefore, should be given to stop the generation of mixed waste, which prevents recovery of plastics. Companies covered by extended producer responsibility provisions must be required to take back their waste. In parallel, incentives to reduce the use of plastic carry bags, single-use cups, plates and cutlery must be in place. Retailers must be required to switch to paper bags. Potentially, carry bag production using cloth can create more jobs than machines using plastic pellets. What needs to be underscored is that plastics became popular because they are inexpensive, can be easily produced and offer great convenience. But, as the UN Environment Programme notes, their wild popularity has turned them into a scourge. Consumers will be ready to make the switch, but they need good alternatives.